

नारदभक्तिसूत्राणि
हिन्दी अनुवाद सहित

श्रीनारदवन्दना

जयति जगति मायां यस्य कायाधवस्ते
वचनरचनमेकं केवलं चाकलय्य ।
ध्रुवपदमपि यातो यत्कृपातो ध्रुवोऽयं
सकलकुशलपात्रं ब्रह्मपुत्रं नतोऽस्मि ॥

जिनके एक ही वचन को हृदयङ्गम करने से कयाधु के पुत्र प्रह्लाद ने इस जगत् में माया पर जीत हासिल कर ली और ध्रुव ने भी जिनकी कृपा से ध्रुवपद प्राप्त कर लिया — उन सभी सद्गुणों के आश्रय और ब्रह्माजी के पुत्र श्रीनारदजी के सम्मुख मेरा मस्तक झुक गया है ।

(‘पद्मपुराण’ से)

नारदीय भक्तिसूत्र

प्रस्तावना

भगवान् श्रीरामकृष्णदेव बारम्बार कहा करते थे - "कलियुगमें नारदीय भक्ति" (ही सर्वाधिक समादरणीय है)। क्योंकि 'नारदभक्तिसूत्रों'में भगवद्भक्तिका पूर्णतया समन्वयात्मक स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। श्रीनारदजी जो भक्ति इसमें सिखाते हैं, वह ईश्वरस्वरूपसे निष्पन्न है, स्वरूपसिद्ध है। मानवी मन-बुद्धिकी सोचसे वह निष्पन्न नहीं हो सकती।

तो इस प्रकार 'नारदभक्तिसूत्र' एक अमोघ मार्गदर्शक, सर्वसमावेशक, प्रेरणादायी शास्त्रग्रन्थ है। तथापि संस्कृत 'सूत्रग्रन्थ' होनेके नाते इसका सरल बोधगम्य अनुवाद आवश्यक है।

एक विशिष्ट गुरुकृपालब्ध साधकने इन सारे सूत्रोंका अन्तर्गत समन्वयात्मक सम्बन्ध ग्रहण करते हुए उन्हें अध्यायों और परिच्छेदोंमें विभाजित किया तथा मानो नारदजीकीही सीख हिन्दीमें लाते हुए निःसन्दिग्ध स्पष्ट अनुवाद प्रस्तुत कर दिया।

स्वयं पाठकोंकोही इसकी यथार्थता एवं आध्यात्मिक उन्नतिकी दृष्टिसे उपादेयता प्रतीत हो सकेगी। इसकी सहायतासे अधिकारी साधक श्रीनारदजीके कथनानुसार सभी प्रकारसे निश्चिन्त होकर स्वरूपभूत श्रीभगवानकी सर्व भावोंसे सही, सठीक भक्ति करते हुए परमपद प्राप्त करनेमें सफल होंगे!

इति।

नारदभक्तिसूत्राणि

भूमिका

विरोष महत्त्व की बात – जिस असली भक्ति के आधार पर ध्रुव, प्रह्लाद इत्यादि अगणित भक्त अपने-अपने जीवन में पूर्णता पाकर सफल हुए, कृतार्थ हुए, धन्य हुए, वही भक्तिश्रीनारदजी हमें सिखाएँगे। परन्तु याद रखिए कि भक्ति की सर्वसाधारण कल्पनाओं से वह बहुत कुछ भिन्न होगी। उसे ग्रहण करने के लिए चित्त को खोल कर रखना होगा।

‘अनुबन्धचतुष्टय’ – किसी भी शास्त्र का अनुशीलन करते समय पहिले ‘अनुबन्ध-चतुष्टय’ सोचना अनिवार्यतया आवश्यक है; अर्थात् जो चार बातें मन में जागृत होने पर ही शास्त्र का आशय हृदयङ्गम होता है, उन्हें सोचना। वे हैं – अधिकारी, विषय, सम्बन्ध, और प्रयोजन। ‘अधिकारी’ – किसके लिए यह शास्त्र है? इसकी ‘विषयवस्तु’ क्या है? उस विषयवस्तु का हमारे प्रयोजन के साथ क्या ‘सम्बन्ध’ है या वह विषय-वस्तु उस अधिकारी को उसके प्रयोजन से ‘कैसे’ जोड़ती है? और इस सारे का ‘प्रयोजन’ क्या है? ऊपर जो ‘विरोष महत्त्व की बात’ बतायी गयी उसे ध्यान में रखते हुए हमें यहाँ ‘अनुबन्धचतुष्टय’ सोचना है।

“राम नाम सब कोई कहे, ठक ठाकुर और चोर।

जिस नाम से ध्रुव प्रह्लाद तरे, वह नाम कछु और ॥”

यह भक्ति क्या है? – यह है भगवान के प्रति खिंचाव।

इस प्रकार विषयवस्तु है यही ‘नारदीयभक्ति’। प्रयोजन है माया को पार कर जाना, मोक्ष, पूर्णत्व, ईश्वर को पाना और उसी में रहना। अधिकारी है वह साधक जो अपने में बदलाव लाने को तत्पर है योग्य गुरु के मार्गदर्शनानुसार; स्वयं अपने मायाग्रस्त मन में जैसे उठेगा, वैसे नहीं। ‘सम्बन्ध’ क्या है? अर्थात् इस शास्त्र की ‘विषयवस्तु’ ‘अधिकारी साधक’ को ‘जीवन के प्रयोजन’ से कैसे जोड़ती है? अमोघ मार्गदर्शन के द्वारा उसमें, उसकी ‘भक्ति’ में, उसके सम्पूर्ण मनोभाव और समूचे व्यक्तित्व में आमूलचूल परिवर्तन लाकर।

नारदभक्तिसूत्राणि

प्रथमोऽध्यायः भक्तिस्वरूपम्

परिच्छेद 1. भक्तिस्वरूपम्

अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः ॥ 1 ॥

अब, इसलिए भक्ति की हमलोग व्याख्या करते हैं।

सा त्वस्मिन्परमप्रेमरूपा ॥ 2 ॥

परन्तु, वह भक्ति तो 'इस' के प्रति परमप्रेमरूप है।

अमृतस्वरूपा च ॥ 3 ॥

और अपने निजी स्वरूप में तो उसे 'अमृत' ही कहा जा सकता है।

यल्लब्ध्वा पुमान्सिद्धो भवति अमृतो भवति तृप्तो भवति ॥ 4 ॥

जो (अमृत) मिल जाने से पुरुष सिद्ध हो जाता है, निर्दोष पूर्णत्व हासिल कर लेता है, अमृत हो जाता है, चिरतृप्त हो जाता है - वही (अमृत) इस सही भक्ति की भीतरी असलियत है।

यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति ॥ 5 ॥

जिस अमृत को पाकर किसी भी पदार्थ की इच्छा नहीं करता, न शोक करता है, न द्वेष; न किसी में रममाण होता है, न किसी नये पदार्थ के लिए उत्साहित होता है।

यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति ॥ 6 ॥

जिस अमृत को जानकर मतवाला हो जाता है, निश्चल हो जाता है, आत्मा में ही रमण करनेवाला हो जाता है।

सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात् ॥ 7 ॥

उस सही भक्ति का एक रूप या पहलू यह है कि वह मन को बाहर जाने से रोकनेवाली होती है, अतएव उसमें कामनाओं का होना सम्भव नहीं है।

निरोधस्तु लोकवेदव्यापारन्यासः ॥ 8 ॥

परन्तु इस 'रोकने' का अर्थ होता है लौकिक और धार्मिक सभी क्रियाओं का अर्पण।

तस्मिन्ननन्यता तद्विरोधिषूदासीनता च ॥ 9 ॥

और उसी में अनन्यता तथा उसके विरोधी तत्त्वों के प्रति उदासीनता।

अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता ॥ 10 ॥

अनन्यता सिद्ध होती है अन्य आश्रयों का त्याग करने से।

लोकवेदेषु तदनुकूलाचरणं तद्विरोधिषूदासीनता ॥ 11 ॥

लौकिक और धार्मिक सभी विषयों में उसके अनुकूल आचरण करना ही उसके विरोधियों से उदासीनता है।

भवतु निश्चयदाढ्यादूर्ध्वं शास्त्ररक्षणम् ॥ 12 ॥

निश्चय की दृढ़ता के पश्चात् शास्त्रों का पालन हो।

अन्यथा पातित्याशङ्कया ॥ 13 ॥

नहीं तो पतन की ओर झुकाव होने का खतरा हो सकता है।

लोकोऽपि तावदेव; भोजनादिव्यापारस्त्वाशरीरधारणावधि ॥ 14 ॥

लौकिक नियम भी तभी तक पालन करने हैं; परन्तु भोजनादि क्रियाएँ तो जब तक शरीर धारण किया हुआ है, तब तक चलती रहेंगी।

परिच्छेद 2. भक्तिलक्षणानि

तल्लक्षणानि वाच्यन्ते नाना मतभेदात् ॥ 15 ॥

उस भक्ति के बाहरी लक्षणों का अलग-अलग प्रकार से वर्णन किया जाता है, क्योंकि मन की सोच में विविधता होती है।

पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः ॥ 16 ॥

पराशरपुत्र व्यासदेवजी कहते हैं कि भक्ति का अनुराग पूजा आदि के माध्यम से प्रकट होता है।

कथादिष्विति गर्गः ॥ 17 ॥

भक्ति का अनुराग कथा-श्रवण और कथन-कीर्तन के माध्यम से प्रकट होता है ङ्क यह गर्गाचार्य का कहना है।

आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः ॥ 18 ॥

जो अनुराग बाह्य क्रियाओं में प्रकट हो, वह प्रत्यगात्मा में जो रति है, उससे विरोधी न हो ङ्क यह कथन है आचार्य शाण्डिल्य का।

नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति ॥ 19 ॥

परन्तु श्रीनारदजी कहते हैं कि भक्ति का पूरा लक्षण इस प्रकार है कि ङ्क सभी आचरण स्वभावतः परमात्मा को समर्पित हों और उसका विस्मरण होने की स्थिति में चित्त में तीव्र व्याकुलता हो जाय।

अस्त्येवमेवम् ॥ 20 ॥

हाँ, ऐसे भी कई उदाहरण हैं।

यथा ब्रजगोपिकानाम् ॥ 21 ॥

जैसे कि ब्रज की गोपिकाओं का उदाहरण है।

तत्रापि न माहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः ॥ 22 ॥

उस उदाहरण में भी स्वरूपमाहात्म्य के ज्ञान का विस्मरणरूप दोष नहीं है।

तद्विहीनं जारणामिव ॥ 23 ॥

उस माहात्म्यज्ञान के बिना वह किसी उपपत्ति से प्यार करने जैसा हो जाता।

नास्त्येव तस्मिन्तत्सुखसुखित्वम् ॥ 24 ॥

वैसे अपवित्र प्यार में प्रिय के सुख में सुख पाना होता ही नहीं।

परिच्छेद 3. भक्तिनिर्णयः

सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा ॥ 25 ॥

वह अमृतस्वरूप भक्ति तो कर्म, ज्ञान तथा योग से भी कुछ और अधिक है।

फलरूपत्वात् ॥ 26 ॥

क्योंकि वैसी भक्ति इन तीनों साधनों के फलस्वरूप होती है।

ईश्वरस्याप्यभिमानद्वेषित्वाद्दैन्यप्रियत्वाच्च ॥ 27 ॥

और इसलिए भी सठीक, मोक्षदायिनी भक्ति कर्म, ज्ञान और योग से कुछ और अधिक है क्योंकि ईश्वर का स्वरूप भी 'अहं' को सहन नहीं करता तथा 'अनहंकार' के अनुकूल होता है।

तस्याः ज्ञानमेव साधनमित्येके ॥ 28 ॥

कुछ लोग कहते हैं कि एकमात्र ज्ञान ही उस भक्ति का साधन है।

अन्योन्याश्रयत्वमित्यन्ये ॥ 29 ॥

ज्ञान तथा भक्ति को परस्पर का सहारा है, ऐसा दूसरे लोग कहते हैं।

स्वयम्फलरूपतेति ब्रह्मकुमाराः ॥ 30 ॥

ब्रह्मा के पुत्र श्रीसनत्कुमारजी का निर्णय है कि ज्ञान कहो या भक्ति, वह तो स्वयं ही मूल है और स्वयं ही फल है।

राजगृहभोजनादिषु तथैव दृष्टत्वात् ॥ 31 ॥

चूँकि राजा, घर तथा भोजन इत्यादि उदाहरणों में इसी प्रकार देखा जाता है।

न तेन राजा परितोषः क्षुच्छान्तिर्वा ॥ 32 ॥

वह जो राजा बना, घर लौटकर उसे जो शान्ति मिली, क्षुधारहित होने पर जो स्वस्थता हुई, वह किसी विशिष्ट बाहरी कारण से नहीं।

तस्मात्सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः ॥ 33 ॥

इसलिए ऐसी स्वरूपसिद्ध भक्ति ही मुमुक्षुओं द्वारा स्वीकारने योग्य है।

द्वितीयोऽध्यायः— भक्तिसाधना

परिच्छेद 1. भक्तिसाधनानि

तस्याः साधनानि गायन्त्याचार्याः ॥ 34 ॥

उस भक्ति के साधनों का आचार्यगण उद्दान करते हैं।

तत्तु विषयत्यागात्सङ्गत्यागाच्च ॥ 35 ॥

परन्तु वह तो प्राप्त होती है विषयों के त्याग से और आसक्ति के भी त्याग से।

अव्यावृत्तभजनात् ॥ 36 ॥

भगवद्भजन को किसी भी सीमा में बाँधकर न रखने से वह भक्ति प्राप्त होती है।

लोकेऽपि भगवद्गुणश्रवणकीर्तनात् ॥ 37 ॥

आवश्यक लौकिक कार्यों को करते समय भी भगवद्गुणों का श्रवण और कीर्तन करने से वह भक्ति प्राप्त होती है।

मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा ॥ 38 ॥

परन्तु मुख्यतः तो महापुरुषों की कृपा से ही वह भक्ति प्राप्त होती है अथवा भगवत्कृपा के बिन्दु से प्राप्त होती है।

महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च ॥ 39 ॥

परन्तु महापुरुषों का सङ्ग दुर्लभ है; और वे पहिचानने में भी नहीं आते; अवश्य यदि महापुरुषों का सङ्ग मिल जाय तो उसका प्रभाव कभी असफल नहीं होता।

लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव ॥ 40 ॥

और वह महापुरुषों का सङ्ग भी परमात्मा की कृपा से ही प्राप्त होता है, प्राप्त हो ही जाता है।

तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात् ॥ 41 ॥

क्योंकि परमात्मा में और उसके अपने जनों - महापुरुषों - में भेद ही नहीं है।

तदेव साध्यतां तदेव साध्यताम् ॥ 42 ॥

उस महापुरुषों के सङ्ग को ही हासिल कर लो, वही प्राप्त कर लो।

दुःसङ्गः सर्वथैव त्याज्यः ॥ 43 ॥

दुर्जनों का सङ्ग सभी प्रकार से त्याज्य है।

कामक्रोधमोहस्मृतिभ्रंशबुद्धिनाश(सर्वनाश)कारणत्वात् ॥ 44 ॥

क्योंकि वह काम, क्रोध, मोह, स्मृतिभ्रंश और बुद्धिनाश के जरिए सर्वनाश करानेवाला होता है।

तरङ्गायिता अपीमे सङ्गात्समुद्रायन्ते ॥ 45 ॥

ये दोष मनुष्य के मन में यदि तरङ्गों के समान भी हों, तो दुर्जनों की सङ्गति उन्हें समुद्र के समान बना देती है।

परिच्छेद 2 मायासन्तरणम्

कस्तरति कस्तरति मायाम् ? यः सङ्गांस्त्यजति, यो महानुभावं सेवते, निर्ममो भवति ॥ 46 ॥

माया को कौन पार करता है, कौन पार करता है ? जो आसक्तियों को छोड़ता है, जो महापुरुषों का आश्रय लेकर उनकी सेवा करता है और जो ममत्वबुद्धि को छोड़ देता है।

यो विविक्तस्थानं सेवते, यो लोकबन्धमुन्मूलयति, (यो) निस्त्रैगुण्यो भवति, (यो) योगक्षेमं त्यजति ॥ 47 ॥

जो निर्जनवास करने लगता है, लौकिक बन्धनों को जड़ से उखाड़ देता है, जो त्रिगुणों से अतीत हो जाता है, जो योगक्षेम को सोचना छोड़ देता है।

यः कर्मफलं त्यजति, कर्माणि संन्यस्यति, ततो निर्द्वन्द्वो भवति ॥ 48 ॥

जो कर्मफलों का त्याग करता है, कर्मों से ऊपर उठ जाता है और इस प्रकार द्वन्द्वरहित हो जाता है।

यो वेदानपि संन्यस्यति, केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते ॥ 49 ॥

जो वेदों से भी ऊपर उठ जाता है, जिसे केवल अविच्छिन्न अनुराग प्राप्त होता है।

स तरति स तरति स लोकांस्तारयति ॥ 50 ॥

वही माया को पार कर जाता है, निश्चित ही वह माया से पार हो जाता है और वह लोगों को भी माया से पार करा देता है।

परिच्छेद 3. प्रेमपराकाष्ठा

अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम् ॥ 51 ॥

प्रेम का स्वरूप अनिर्वचनीय है।

मूकास्वादनवत् ॥ 52 ॥

जैसे गूँगा कोई स्वाद चखे!

प्रकाश्यते कापि पात्रे ॥ 53 ॥

किसी सुयोग्य व्यक्ति में ही वह प्रेम प्रकट हो जाता है।

गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम् ॥ 54 ॥

वह प्रेम तीनों गुणों से ऊपर होता है, कामनाओं से ऊपर होता है, प्रतिक्षण बढ़ता जाता है, उसमें रुकावट या खण्ड नहीं होता, वह अधिकाधिक सूक्ष्म होता चला जाता है और अन्त में केवल अनुभवरूप ही रह जाता है।

तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति ॥ 55 ॥

उस प्रेमस्वरूप परमात्मा को प्राप्त कर लेने पर वह उसी को देखता है, उसी को सुनता है, उसी को बोलता है, उसी को सोचता है।

तृतीयोऽध्यायः — गौणी भक्तिः

परिच्छेद 1. गौणभक्तान्प्रति—

गौणी त्रिधा गुणभेदादार्तादिभेदाद्वा ॥ 56 ॥

गौण भक्ति के तीन भेद होते हैं; गुणों के अनुसार सात्त्विक, राजसिक और तामसिक या फिर आर्त इत्यादि अर्थात् आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी की भक्ति।

उत्तरस्मादुत्तरस्मात्पूर्वपूर्वा श्रेयाय भवति ॥ 57 ॥

इनमें बाद-बाद में उल्लिखित हर भेद से पहिले-पहिले वाले प्रकार की भक्ति मोक्ष की ओर ले जाने में अधिक सहायक होती है।

अन्यस्मात्सौलभ्यं भक्तौ ॥ 58 ॥

भक्ति में अन्य साधनों की अपेक्षा सुलभता है।

प्रमाणान्तरस्यानपेक्षत्वात्स्वयंप्रमाणत्वात् ॥ 59 ॥

क्योंकि इसमें अन्य प्रमाणों की आवश्यकता नहीं होती; यह स्वयं-प्रमाण होने से सुलभ है।

शान्तिरूपात्परमानन्दरूपाच्च ॥ 60 ॥

भक्ति शान्तिरूप और परमानन्दरूप होने के कारण भी सुलभ है।

लोकहानौ चिन्ता न कार्या निवेदितात्मलोकवेदत्वात् ॥ 61 ॥

भक्ति करते हुए लौकिक हानि होगी, ऐसी चिन्ता नहीं करनी चाहिए, क्योंकि भक्त ने स्वयं को अपने लौकिक एवं धार्मिक प्रयासों सहित परमात्मा के अर्पण कर दिया होता है।

न तदसिद्धौ लोकव्यवहारो हेयः, किन्तु फलत्यागः

तत्साधनं च कार्यमेव ॥ 62 ॥

जब तक भक्ति सिद्ध न हो जाय तब तक लौकिक व्यवहार त्याज्य नहीं है, परन्तु फलत्याग तथा भक्ति प्राप्त करने की साधना अवश्य ही करनी है।

स्त्रीधननास्तिक (वैरि) चरित्रं न श्रवणीयम् ॥ 63 ॥

स्त्री-चरित्र की चर्चा और धन की चर्चा, नास्तिक तथा भगवद्द्वेषियों के चरित्र की चर्चा नहीं सुननी चाहिए।

अभिमानदम्भादिकं त्याज्यम् ॥ 64 ॥

अभिमान, दम्भ इत्यादि दुर्गुणों का त्याग करना चाहिए।

तदर्पिताखिलाचारः सन्कामक्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम् ॥ 65 ॥

अपने सारे ही आचरण जब भगवदर्पण कर दिये हों तो काम-क्रोध-अभिमान आदि प्रवृत्तियाँ उसी में लगानी चाहिए।

त्रिरूपभङ्गपूर्वकं नित्यदास्य-नित्यकान्ताभजनात्मकं प्रेम कार्यं प्रेमैव कार्यम् ॥ 66 ॥

नित्य दास्य या नित्य कान्ताभाव से भजन करते हुए इस प्रकार प्रेम करते जाना चाहिए कि प्रेमी, प्रेमास्पद और उनका विशिष्ट सम्बन्ध - ये तीनों रूप नष्ट हो जायँ और केवल प्रेम ही बचा रहे।

परिच्छेद 2. मुख्यभक्तमहिमा

भक्ता एकान्तिनो मुखाः ॥ 67 ॥

जो परमात्मा को छोड़ और कुछ भी नहीं जानते या सोचते हैं, वे ही मुख्यरूप से भक्त कहलाते हैं।

कण्ठावरोधरोमाञ्चाश्रुभिः परस्परं लपमानाः पावयन्ति कुलानि

पृथिवीं च ॥ 68 ॥

जब वे परस्पर बातें करते हैं तो भगवत्प्रेम से उनके कण्ठ अवरुद्ध होते हैं, रोंगटे खड़े होते हैं, आँखों में अश्रु जमा होते हैं, और इस प्रकार वे अपने-अपने कुल को तथा पृथिवी को भी पवित्र करते हैं।

तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि, सुकर्माकुर्वन्ति कर्माणि, सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि ॥ 69 ॥

उनसे ही तीर्थों को तीर्थत्व प्राप्त होता है, वे जिन कर्मों को अपनाते हैं, वे ही सत्कर्म बन जाते हैं, और वे ही शास्त्रों को सत् शास्त्र बना देते हैं।

तन्मयाः ॥ 70 ॥

वे भगवान से ही भरे हुए होते हैं।

मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवताः सनाथा चेयं भूर्भवति ॥ 71 ॥

उनके जीवन से पितरों को आनन्द होता है, देवता उन्हें देख कर आनन्द से नाचने लगते हैं और इस पृथिवी को रक्षणकर्ता प्राप्त होते हैं।

नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादि भेदः ॥ 72 ॥

उनमें जाति, विद्या, रूप, कुल, धन, क्रिया आदि को लेकर कोई भेद नहीं होता।

यतस्तदीयाः ॥ 73 ॥

क्योंकि वे तो परमात्मा के ही अपने जन होते हैं।

परिच्छेद 3. भक्तान्प्रति—

वादो नावलम्ब्यः ॥ 74 ॥

वाद का अवलम्ब नहीं करना चाहिए।

बाहुल्यावकाशत्वादनियतत्वाच्च ॥ 75 ॥

क्योंकि उसमें विचारों की बहुलता को स्थान होता है और उसे नियन्त्रित नहीं किया जा सकता।

भक्तिशास्त्राणि मननीयानि तदुद्धोधककर्माणि करणीयानि ॥ 76 ॥

भक्तिशास्त्रों का मनन करना चाहिए तथा जिन कर्मों से भक्ति जग जाय, वे कर्म करने चाहिए।

सुखदुःखेच्छालाभादित्यक्ते काले प्रतीक्ष्यमाणे क्षणार्धमपि

व्यर्थं न नेयम् ॥ 77 ॥

काल अर्थात् मृत्यु मनुष्य के सुख, दुःख, इच्छा, लाभ आदि को न सोचकर उसे उठा ले जाने की प्रतीक्षा करता रहता है, इसलिए आधा क्षण भी व्यर्थ नहीं गँवाना चाहिए।

अहिंसासत्यशौचदयाऽऽस्तिक्यादि चारित्र्याणि परिपालनीयानि ॥ 78 ॥

अहिंसा, सत्य, शौच, दया, आस्तिक्य आदि चरित्र के गुणों का सब प्रकार से पालन करना चाहिए।

सर्वदा सर्वभावेन निश्चिन्तैः भगवानेव भजनीयः ॥ 79 ॥

सर्वदा सब प्रकार से निश्चिन्त होकर भगवान की भक्ति ही करनी चाहिए।

स कीर्त्यमानः शीघ्रमेवाविर्भवत्यनुभावयति च भक्तान् ॥ 80 ॥

जब भक्त उनका भजन-कीर्तन करते रहते हैं, तब वे शीघ्र ही भक्त के हृदय में प्रकट होकर उसे अपना अनुभव करा देते हैं।

त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी भक्तिरेव गरीयसी ॥ 81 ॥

जो त्रिकालातीत सत्य है उस परमात्मा की भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है, मनुष्य-जीवन में वह भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ वस्तु है।

उपसंहारः

गुणमाहात्म्यासक्ति-रूपासक्ति-पूजासक्ति-स्मरणासक्ति-दास्यासक्ति-सख्यासक्ति-वात्सल्यासक्ति-कान्तासक्ति-

आत्मनिवेदनासक्ति-तन्मयतासक्ति-परमविरहासक्ति-रूपा एकधाऽपि एकादशधा भवति ॥ 82 ॥

वह - मुख्य, सठीक, अमृतस्वरूप - भक्ति मूल में एकरूप होते हुए भी जिस मन में प्रकट होती है, उसकी बनावट के अनुसार गुण-माहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, वात्सल्यासक्ति, कान्तासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति तथा परमविरहासक्ति, इन ग्यारह रूपों में प्रकट हो जाती है।

इत्येवं वदन्ति जनजल्पनिर्भया एकमताः कुमार-व्यास-शुक-शाण्डिल्य-गर्ग-विष्णु-कौण्डिन्य-शेष-उद्धव-आरुणि

बलि-हनुमद्-बिभीषणादयो भक्त्याचार्याः ॥ 83 ॥

सामान्यजनों की बकवास से निडर होकर, एकमत होकर श्रीसनत्कुमार, श्रीव्यासदेव, श्रीशुकदेव, श्रीशाण्डिल्य, श्रीगर्ग, भगवान श्रीविष्णुके अवतार श्रीराम और श्रीकृष्ण, श्रीशाण्डिल्यजीके पुत्र और शिष्य श्रीकौण्डिन्य, श्रीशेषावतार लक्ष्मणजी, श्रीउद्धवजी, श्रीआरुणि, श्रीबलिराजा, श्रीहनुमानजी, श्रीबिभीषणजी आदि-आदि, भक्ति की सिखावन देने वाले सभी आचार्य यही सीख देते हैं।

य इदं नारदप्रोक्तं शिवानुशासनं विश्वसिति श्रद्धते स भक्तिमान्भवति

स प्रेष्टं लभते स प्रेष्टं लभते ॥ 84 ॥

श्रीनारदजी द्वारा कथित इस कल्याणकारी शास्त्र में जो विश्वास करता है, जो इसमें श्रद्धावान् होता है, उसे सही अर्थों में भक्ति प्राप्त हो जाती है और जीवन की परमप्रिय वस्तु जो अमृतस्वरूप परमात्मा, वे भी उसे प्राप्त हो जाते हैं; निश्चय ही वह प्रियतम अमृतस्वरूप परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

-.-.-. ॐ तत् सत् ॐ -.-.-